संलेखना : स्वरूप और महत्त्व

□ श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

(राजस्थान केसरी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी के शिष्य)

श्रमण और श्रावक दोनों के लिए संलेखना आवश्यक मानी गई है। श्वेताम्बर परम्परा में "संलेखना" शब्द का प्रयोग हुआ है तो दिगम्बर परम्परा में "सल्लेखना" शब्द का। संलेखना व्रतराज है। जीवन की सान्ध्य वेला में की जाने वाली एक उत्कृष्ट साधना है। जीवन भर कोई साधक उत्कृष्ट तप की साधना करता रहे, पर अन्त समय में वह राग-द्वेष के दल-दल में फँस जाये[1] तो उसका जीवन निष्फल हो जाता है। उसकी साधना विराधना में परिवर्तित हो जाती है। आचार्य शिवकोटि ने तो यहाँ तक लिखा है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप, धर्म में चिरकाल तक निरतिचार प्रवृत्ति करने वाला मानव यदि मरण के समय धर्म की विराधना कर बैठता है तो वह संसार में अनन्त काल तक परिभ्रमण करता है।[2]

संलेखना मन की उच्चतम आध्यात्मिक दशा का सूचक है। संलेखना मृत्यु का आकस्मिक वरण नहीं है और न वह मौत का आह्वान ही है, वरन् जीवन के अन्तिम क्षणों में सावधानीपूर्वक चलना है। वह मृत्यु को मित्र की तरह आह्वान करता है। मित्र ! आओ, मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। मुझे शरीर पर मोह नहीं है। मैंने अपने कर्त्तव्य को पूर्ण किया है। मैंने अगले जन्म के लिए सुगति का मार्ग ग्रहण कर लिया है।[3] संलेखना जीवन की अन्तिम आवश्यक साधना है। वह जीवन-मन्दिर का सुन्दर कलश है। यदि संलेखना के बिना साधक मृत्यु का वरण करता है तो उसे उचित नहीं माना जाता।

संलेखना को हम स्वेच्छा-मृत्यु कह सकते हैं। जब वैराग्य का तीव्र उदय होता है तब उसे शरीर और अन्य पदार्थों में बन्धन की अनुभूति होती। वह बन्धन को समझकर उससे मुक्त बनना चाहता है। महाराष्ट्र के सन्त कवि ने कहा है—"माझे मरण पाही एले डोला तो झाला सोहला अनुपम्य"—मैंने अपनी आँखों से मृत्यु को देख लिया, यह अनुपम महोत्सव है। वह मृत्यु को न आमन्त्रित करता है, पर मृत्यु से भयभीत नहीं होता। जैसे कबूतर पर जब बिल्ली झपटती है तब वह आँखें मूँद लेता है और वह सोचता है अब बिल्ली झपटेगी नहीं। आँखें मूँद लेने मात्र से बिल्ली कबूतर को छोड़ती नहीं है। यमराज मृत्यु को भुला देने वाले को छोड़ता नहीं है। वह तो अपना हमला करता ही है। अतः साधक कायर की भाँति मुँह को मोड़ता नहीं। किन्तु वीर सेनानी की तरह मुस्कराते हुए मृत्यु का स्वागत करता है।

---

१. अन्त क्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते। तस्माद्या—विद्विभवं समधिकरणे प्रयतितव्यम् ॥

—समन्तभद्र, समीचीन धर्मशास्त्र ६।२

२. भगवती आराधना, गाथा १५

३. "लहिओ सुग्गई मग्गो नाहं मच्चुस्स बीहेमो।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संलेखना मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की कला सिखाती है। वह जीवन-शुद्धि और मरण-शुद्धि की एक प्रक्रिया है। जिस साधक ने मदन के मद को गलित कर दिया है, जो परिग्रह पंक से मुक्त हो चुका है, सदा सर्वदा आत्म-चिन्तन में लीन रहता है वही व्यक्ति इस मार्ग को अपनाता है। संलेखना में सामान्य मनोबल वाला साधक, विशिष्ट मनोबल को प्राप्त करता है। उसकी मृत्यु असमाधि का नहीं समाधि का कारण है। एक सन्त कवि ने कहा है—जैसे कोई वधू डोले पर बैठकर ससुराल जा रही हो।[1] उसके मन में अपार आह्लाद होता है, वैसे ही साधक को भी परलोक जाते समय अपार प्रसन्नता होती है।

संलेखना और समाधिमरण ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में प्रथम श्लोक में संलेखना का लक्षण बताया है, और द्वितीय श्लोक में समाधिमरण का। आचार्य शिवकोटि ने "संलेखना" और समाधिमरण को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। उमास्वाति ने श्रावक और श्रमण दोनों के लिए संलेखना का प्रतिपादन कर संलेखना और समाधिमरण का भेद मिटा दिया है। आचार्य कुन्दकुन्द समाधिमरण श्रमण के लिए मानते हैं और संलेखना गृहस्थ के लिए मानते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रावक के द्वादश व्रतों में जो चार शिक्षाव्रत हैं उनमें संलेखना को चौथा शिक्षाव्रत माना है।[2] आचार्य कुन्दकुन्द का अनुसरण करते हुए शिवार्यकोटि, आचार्य देवसेन, आचार्य जिनसेन, आचार्य वसुनन्दि आदि ने संलेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत में सम्मिलित किया है। किन्तु आचार्य उमास्वाति ने संलेखना को श्रावक के द्वादश व्रतों में नहीं गिना है। उन्होंने संलेखना को अलग नियम व धर्म के रूप में प्रतिपादन किया है।

आचार्य समन्तभद्र, पूज्यपाद, आचार्य अकलंक, विद्यानन्दी, आचार्य सोमदेव, अमितगति, स्वामि कार्तिकेय प्रभृति अनेक आचार्यों ने आचार्य उमास्वाति के कथन का समर्थन किया है। इन सभी आचार्यों ने एक स्वर से इस सत्य तथ्य को स्वीकार किया है कि शिक्षाव्रत में संलेखना को नहीं गिनना चाहिए। क्योंकि शिक्षाव्रत में अभ्यास किया जाता है। पर संलेखना मृत्यु का समय उपस्थित होने पर स्वीकार की जाती है, उस समय अभ्यास के लिए अवकाश ही कहाँ है, यदि द्वादश व्रतों में संलेखना को गिनेंगे तो फिर एकादश प्रतिमाओं को धारण करने का समय कहाँ रहेगा। इसलिए उमास्वाति का मन्तव्य उचित है। श्वेताम्बर जैन आगम साहित्य और आगमेतर साहित्य में कहीं पर भी संलेखना को द्वादश व्रतों में नहीं गिना है। इसलिए समाधिमरण श्रमण के लिए और संलेखना गृहस्थ के लिए है यह कथन युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि आगम साहित्य में अनेक श्रमण-श्रमणियों के द्वारा संलेखना ग्रहण करने के प्रमाण समुपलब्ध होते हैं।

संलेखना की व्याख्या

आचार्य अभयदेव ने "स्थानांग वृत्ति"[3] में संलेखना की परिभाषा करते हुए लिखा है—"जिस क्रिया के द्वारा शरीर एवं कषाय को दुर्बल और कृश किया जाता है वह संलेखना है।" "ज्ञातासूत्र" की वृत्ति[4] में भी इसी अर्थ को स्वीकार किया है। "प्रवचनसारोद्धार" में[5] "शास्त्र में प्रसिद्ध चरम अनशन की विधि को संलेखना कहा है।" निशीथ

---

१. "सजनि ! डोले पर हो जा सवार। लेने आ पहुँचे हैं कहार।"

२. "सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं अतिहिपुज्जं चउत्थ संलेहणा अन्ते॥
—चारित्रपाहुड, गाथा २६

३. संलिख्यतेऽनया शरीर कषायादि इति संलेखना"—स्थानांग २ उ० २ वृत्ति

४. "कषायशरीरकृशतायाम्"। —ज्ञाता० वृत्ति

५. आगमोक्तविधिना शरीराद्यपकर्षणम्—प्रवचनसारोद्धार १३५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चूर्णि व अन्य स्थलों पर संलेखना का अर्थ "छीलना—कृश करना" किया है।[1] शरीर को कृश करना द्रव्य संलेखना है और कषाय को कृश करना भाव संलेखना है।

संलेखना शब्द "सत्" और "लेखना" इन दोनों के संयोग से बना है। सत् का अर्थ है सम्यक् और लेखना का अर्थ है कृश करना। सम्यक् प्रकार से कृश करना। जैन दृष्टि से काय और कषाय को कर्म बन्ध का मूल कारण माना है। इसलिए उसे कृश करना ही संलेखना है। आचार्य पूज्यपाद ने[2] और आचार्य श्रुतसागर ने[3] काय व कषाय के कृश करने पर बल दिया है।

श्री चामुण्डराय ने "चारित्रसार" में लिखा है बाहरी शरीर और भीतरी कषायों का क्रमशः उनके कारणों को घटाते हुए सम्यक् प्रकार से क्षीण करना संलेखना है। "बाह्यस्य कायस्याभ्यान्तराणां कषायाणां तत्कारणहापनया क्रमेण सम्यग्लेखना संलेखना ॥२२॥"

मरण के दो भेद हैं—नित्य मरण और तद्भव मरण। तद्भव मरण को सुधारने के लिए संलेखना का वर्णन है। आचार्य उमास्वाति ने लिखा है—मृत्यु काल आने पर साधक को प्रीतिपूर्वक संलेखना धारण करनी चाहिए।[4] आचार्य पूज्यपाद,[5] आचार्य अकलंक[6] और आचार्य श्रुतसागर[7] ने "मारणांतिकीं संलेखनां जोषिता" सूत्र में जोषिता का अर्थ "प्रीतिपूर्वक" किया है। जिस संलेखना में प्रीति का अभाव है वह संलेखना सम्यक्-संलेखना नहीं है। जब कभी मृत्यु पीछा करती है उस समय सामान्य प्राणी की स्थिति अत्यन्त कातर होती है। जैसे शिकारी द्वारा पीछा करने पर हरिणी घबरा जाती है; पर वीर योद्धा पीछा करने वाले योद्धाओं से घबराता नहीं, वरन् आगे बढ़कर जूझता है; वह जैसे-तैसे जीवन जीना पसन्द नहीं करता, किन्तु दुर्गुणों को नष्ट कर जीवन जीना चाहता है। एक क्षण भी जीऊँ, किन्तु प्रकाश करते हुए जीऊँ—यही उससे अन्तर्हृदय की आवाज होती है। जो साधक जीवन के रहस्य को नहीं पहचानता है और न मृत्यु के रहस्य को पहचानता है, उसका निस्तेज जीवन एक प्रकार से व्यक्तित्व का मरण ही है।[8]

संलेखना के साथ मारणांतिक विशेषण प्रयुक्त होता है। इससे अन्य तपःकर्म से संलेखना का पार्थक्य और वैशिष्ट्य परिज्ञात होता है।

काय और कषाय को क्षीण करने के कारण, काय संलेखना जिसे बाह्य संलेखना भी कहते हैं और कषाय संलेखना जिसे आभ्यन्तर संलेखना कहते हैं। बाह्य संलेखना में आभ्यन्तर कषायों को पुष्ट करने वाले कारणों को वह शनैः शनैः कृश करता है। इस प्रकार संलेखना में कषाय क्षीण होने, तन क्षीण होने पर भी मन में अपूर्व आनन्द रहता है।

संलेखना में शरीर और कषाय को साधक इतना कृश कर लेता है जिससे उसके अन्तर्मानस में किसी भी प्रकार की कामना नहीं होती। उसके अनशन में पूर्ण रूप से स्थैर्य आ जाता है। अनशन से शरीर क्षीण हो सकता है।

---

१. (क) संलेखनं—द्रव्यतः शरीरस्थ भावतः कषायाणं कृशताऽपादनं संलेखसंलेखनेति। —बृहद् वृत्ति पत्र
(ख) मूल १० ३।२०८;—मूला० दर्पण, पृ० ४२५
२. सम्यक्काय कषायलेखना—तत्त्वा० सर्वार्थसिद्धि ७।२२ का भाष्य, पृ० ३६३, भारतीय ज्ञानपीठ
३. सत् सम्यक् लेखना कायस्य कषायाणां च कृशीकरणं तनूकरणं—तत्त्वार्थ वृत्ति ७।२२ भाष्य, पृ०२४६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
४. तत्त्वार्थ सूत्र ७-२२।
५. तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि ७-२२, पृ० ३६३।
६. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ७-२२
७. तत्त्वार्थ श्रुतसागरीय वृत्ति ७-२२।
८. यज्जीवति तन्मरणं, यन्मरणं सास्य विश्रान्ति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर आयुकर्म क्षीण न हो और वह सबल हो तो अनशन दीर्घकाल तक चलता है, जैसे दीपक में तेल और बाती का एक साथ ही क्षय होने से दीपक बुझता है वैसे ही आयुष्यकर्म और देह एक साथ क्षय होने से अनशन पूर्ण होती है।

आचार्य समन्तभद्र[1] ने लिखा है कि प्रतीकाररहित असाध्य दशा को प्राप्त हुए उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा, व रुग्ण स्थिति में या अन्य किसी कारण के उपस्थित होने पर साधक संलेखना करता है।

मूलाराधना में[2] संलेखना के अधिकारी का वर्णन करते हुए सात मुख्य कारण दिये हैं—

१. दुश्चिकित्स्य व्याधि—संयम को परित्याग किये बिना जिस व्याधि का प्रतीकार करना सम्भव नहीं है, ऐसी स्थिति समुत्पन्न होने पर।

२. वृद्धावस्था, जो श्रमण जीवन की साधना करने में बाधक हो।

३. मानव, देव और तिर्यंच सम्बन्धी कठिन उपसर्ग उपस्थित होने पर।

४. चारित्र विनाश के लिए अनुकूल उपसर्ग उपस्थित किये जाते हों।

५. भयंकर दुष्काल में शुद्ध भिक्षा प्राप्त होना कठिन हो रहा हो।

६. भयंकर अटवी में दिग्विमूढ़ होकर पथ-भ्रष्ट हो जाये।

७. देखने की शक्ति व श्रवण शक्ति और पैर आदि से चलने की शक्ति क्षीण हो जाय।

इस प्रकार के अन्य कारण भी उपस्थित हो जाने पर साधक अनशन का अधिकारी होता है।

जैन धर्म में जिस प्रकार "संलेखना" का उल्लेख हुआ है उससे मिलता-जुलता "प्रायोपवेशन" का एक महत्त्वपूर्ण विधान वैदिक परम्परा में प्राप्त होता है। साथ ही 'प्रायोपवेश', 'प्रायोपगमन', 'प्रायोपवशानका' आदि शब्द भी प्राप्त होते हैं, जिनका अर्थ है वह अनशन व्रत जो प्राण त्यागने के लिए किया जाता है।[3] बी० एस० आप्टे ने अपने शब्द कोश में प्रायोपवेशन का अर्थ बताते हुए अन्न-जल त्याग की स्थिति का चित्रण किया है पर उस समय साधक की मानसिक स्थिति क्या होती है उसका कुछ भी वर्णन नहीं है। संलेखना में केवल अन्न-जल का त्याग ही पर्याप्त नहीं है। उसमें उसके साथ ही विवेक, संयम, शुभ संकल्प आदि सद्गुण आवश्यक हैं। 'प्रायोपवेशन' और 'पादपोपगमन' ये दोनों शब्द एक सदृश प्रतीत होते हैं पर दोनों में गहरा अन्तर है। एक का सीधा सम्बन्ध शरीर से है तो दूसरे का सम्बन्ध मानसिक विशुद्धि से है। मानसिक विशुद्धि के बिना शारीरिक स्थिरता स्वाभाविक रूप से नहीं आ सकती। पुराणों में प्रायोपवेशन की विधि का उल्लेख है। मानव से जब किसी प्रकार का कोई महान् पाप कृत्य हो जाय या दुश्चिकित्स्य महारोग से उत्पीड़ित होने से देह के विनाश का समय उपस्थित हो जाय, तब ब्रह्मत्व की उपलब्धि के लिए या स्वर्ग आदि के लिए प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश करे अथवा अनशन से देह का परित्याग करे। प्रस्तुत अधिकार सभी वर्ण वालों के लिए है। इस विधान में पुरुष और नारी का भेद नहीं है।[4]

---

१. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय अनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥ —समीचीन धर्मशास्त्र ६।१ पृ० १६०

२. मूलाराधना २।७१-७४

३. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० ११३०

४. समासक्तौ भवेद्यस्तु पातकैर्महदादिभिः।
दुश्चिकित्स्यैर्महारोगैः पीड़ितो व भवेत्तु यः॥
स्वयं देह विनाशस्य काले प्राप्ते महामतिः।
आब्रह्माणं वा स्वर्गादि महापल जिगीषया॥
प्रविशेज्ज्वलनं दीप्तं कुर्यादनशनं तथा।
एनेषामधिकारो अस्ति नान्येषां सर्वजन्तुषु॥
नराणां-नारीणां सर्ववर्णेषु सर्वदा॥ —रघुवंश के ९४ श्लोक पर मल्लिनाथ-टीका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रायोपवेशन का अर्थ "अनशनपूर्वक मृत्यु का वरण करना" किया गया है।[1] प्रायोपवेशन शब्द में दो पद हैं—"प्राय" और "उपवेशन" "प्राय" का अर्थ "मरण के लिए अनशन"[2] और "उपवेशन" का अर्थ है "स्थित होना।"[3]

प्रायोपवेशन किसी तीर्थस्थान में करने का उल्लेख प्राप्त होता है। महाकवि कालिदास ने तो रघुवंश में स्पष्ट कहा है—"योगेनान्ते तनत्यजाम्[4]। वाल्मीकि रामायण में सीता की अन्वेषणा के प्रसंग में प्रायोपवेशन का वर्णन प्राप्त होता है। जब सुग्रीव द्वारा भेजे गये वानर सीता की अन्वेषणा करने में सफल न हो सके तब अंगद ने उनसे कहा कि हमें प्रायोपवेशन करना चाहिए।[5]

राजा परीक्षित के भी प्रायोपवेशन ग्रहण करने का वर्णन श्रीमद्भागवत में मिलता है।[6] महाभारत, राजतरंगिणी और पंचतन्त्र में भी प्रायोपवेशन का उल्लेख संप्राप्त होता है। रामायण में प्रायोपवेशन के स्थान पर प्रायोपगमन चरक में "प्रायोपयोग" अथवा "प्रायोपेत" शब्द व्यवहृत हुए हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में मृत्यु वरण में योग की प्रधानता स्वीकार की है।[7]

इस प्रकार वैदिक परम्परा में प्रायोपवेशन जीवन की एक अन्तिम विशिष्ट साधना रही है।

आचारांग[8] में संलेखना के सम्बन्ध में बताया है कि जब श्रमण को यह अनुभव हो कि उसका शरीर ग्लान हो रहा है वह उसे धारण करने में असमर्थ है तब वह क्रमशः आहार संकोच करके शरीर को कृश करें।

---

१. "प्रायेण मृत्युनिमित्तकअनशनेन उपवेशः स्थिति सन्यासपूर्वकानशनस्थितिः।"

—शब्द कल्पद्रुम पृ० ३६४.

२. "प्रायश्चानशनै मृत्यौ तुल्य बाहुल्ययोरपि इति विश्वः।" प्रकृष्टमयनम् इति प्रायः प्र+अय+घञ्, मरअर्थमनशनम्। —हलायुधकोश, सूचना प्रकाशन ब्यूरो, उ० प्र०।

३. "प्रायोपवेशने अनशनावस्थाने।"

४. रघुवंश १-८—मल्लिनाथ

५. इदानीमकृतार्थानां मर्तव्यं नात्र संशयः।
हरिराजस्य संदेशमकृत्वा कः सुखी भवेत्॥१२॥
अस्मिन्नतीते काले तु सुग्रीवेणकृते स्वयम्।
प्रायोपवेशनं-युक्तं सर्वेषां च वनौकसाम्॥१३॥
अप्रवृत्ते च सीतायाः पापमेव करिष्यति।
तस्मात्क्षमभिहाद्यैव गन्तु प्रायापवेशनम्॥१४॥
अहं वः प्रतिजानामि न गमिष्याम्यहं पुरोम्।
इहेव प्रायमासिष्ये श्रेयो मरणेव मे।॥१५॥

—वाल्मीकि रामायण ४-५५-१२.

६. प्रायोपवेशः राजर्षेविप्रशापात् परीक्षितः। —भागवत, स्कंध १२.
"प्रायोपविष्टं गंगायां परीतं परिमर्षिभिः।"
—प्रायेण मृत्यु पर्यन्तानशनेनोपविष्टम् इति तट्टीकाय —श्रीधरस्वामी शब्द कल्पद्रुम् पृ० ३६४।

७. श्रीमद्भगवद्गीता ८-१२, ८-१३, ८-५, ८-१०, ५-२३।

८. आचारांग १-८-६७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संलेखना की विधि

संलेखना का उत्कृष्ट काल १२ वर्ष का माना गया है। मध्यम काल एक वर्ष का है और जघन्य काल छः महीने का[1]। 'प्रवचनसारोद्धार' में उत्कृष्ट संलेखना का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए बताया है कि प्रथम चार वर्षों में चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, आदि तप की उत्कृष्ट साधना करता रहे और पारणे में शुद्ध तथा योग्य आहार ग्रहण करे। अगले चार वर्ष में उक्त विधि से विविध प्रकार से विचित्र तप करता रहे और पारणे में रसनिर्यूढ विगय का परित्याग कर दे। इस तरह आठ वर्ष तक तपःसाधना करता रहे। नौवे और दसवें वर्ष में उपवास करे और पारणे में आयंबिल तप की साधना करे। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छः मास में सिर्फ चतुर्थ भक्त, छट्ठ भक्त तप के साथ तप करे और पारणे में आयंबिल तप की साधना करे और आयंबिल में भी ऊनोदरी तप करे। अगले छः माह में उपवास, छट्ठ भक्त, अष्टम भक्त, दशम भक्त, प्रभृति विविध तप करे। किन्तु पारणे में आयंबिल तप करना आवश्यक है। इन छः माह में आयंबिल तप में ऊनोदरी तप करने का विधान नहीं है।[2]

संलेखना के बारहवें वर्ष के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत रहे हैं। आचार्य जिनदासगणी महत्तर का अभिमत है कि बारहवें वर्ष में निरन्तर उष्ण जल के आगार के साथ हीयमान आयंबिल तप करे। जिस आयंबिल में अंतिम क्षण द्वितीय आयंबिल के आदि क्षण से मिल जाता है वह कोडीसहियं आयंबिल कहलाता है।[3] हीयमान से तात्पर्य है निरन्तर भोजन और पानी की मात्रा न्यून करते जाना। वर्ष के अन्त में उस स्थिति पर पहुँच जाये कि एक दाना अन्न और एक बूंद पानी ग्रहण किया जाय। प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति में भी प्रस्तुत क्रम का ही प्रतिपादन किया गया है।

बारहवें वर्ष में भोजन करते हुए प्रति-दिन एक-एक कवल कम करना चाहिए। एक-एक कवल कम करते-करते जब एक कवल आहार आ जाय तब एक-एक दाना कम करते हुए अंतिम चरण में एक दाने को ही ग्रहण करे।[4] इस प्रकार अनशन की स्थिति पहुँचने पर साधक फिर पादपोपगमन अथवा "इंगिनीमरण" अनशन व्रत ग्रहण कर समाधिमरण को प्राप्त होवे।

उत्तराध्ययन वृत्ति[5] के अनुसार संलेखना का क्रम इस प्रकार है। प्रथम चार वर्ष में विकृति परित्याग अथवा आयंबिल, द्वितीय चार वर्ष में विचित्र तप उपवास, छट्ठ भक्त आदि और पारणे में यथेष्ट भोजन[6] ग्रहण कर सकता है।

नोवें और दसवें वर्ष में एकान्तर उपवास और पारणे में आयंबिल किया जाता है। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम

---

१. सा जघन्या मध्यमा उत्कृष्टा च। —व्यवहारभाष्य, २०३

२. चत्तारि विचित्ताई विगई, निज्जूहियाइं चत्तारि।
संवच्छरे य दोन्नि एगंतरियं च आयाम ॥९८२॥
नाई विगिट्ठो य तनो छम्मास परिमिअं च आयामं।
अवरे विय छम्मासे होई विगिटं तवो कम्मं ॥९८३॥ —प्रवचनसारोद्धार

३. दुवालसयं वरिसं निरन्तर हायमाण उसिणोदराण आयंबिल करेइ तं कोडीसहियं भवइ जणेय विलस्स कोडी कोडीए मिलाई ॥ —निशीथ चूर्णि

४. द्वादशे वर्षे भोजनं कुर्वत, प्रतिदिनमेकैककवल हान्यान्तावदूनोदरतां करोति यावदेकं कवलमाहारयति। —प्रवचनसारोद्धारवृत्ति

५. उत्तराध्ययन ६-२५—२५५.

६. द्वितीय वर्ष चतुष्के। "विचित्तं तु" इति विचित्रमेव चतुर्थषष्ठाष्टमादिरूपं तपश्चरेत,""""उगम विसुद्ध" सव्व कप्प-णिज्जं पारेति। बृहद्वृत्ति पत्र ७०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छ: माह में अष्टम, दशम, द्वादश भक्त आदि की तपस्या की जाती है जिसे विकृष्ट कहा है।[1] ग्यारहवें वर्ष में पारणे के दिन आयंबिल तप किया जाता है। प्रथम छ: माह में आयंबिल में ऊनोदरी तप करते हैं[2] और द्वितीय छ: माह में आयंबिल के समय भर-पेट आहार ग्रहण करते हैं।[3] बारहवें वर्ष में कोटि सहित आयंबिल अर्थात् निरन्तर आयंबिल करते हैं या प्रथम दिन आयंबिल और दूसरे दिन अन्य कोई तप करते हैं, पुन: तीसरे दिन आयंबिल करते हैं।[4] बारहवें वर्ष के अन्त में अर्ध मासिक या मासिक अनशन भक्त परिज्ञा आदि किया जाता है।[5]

जिनदासगणी क्षमाश्रमण के अभिमतानुसार संलेखना के बारहवें वर्ष में छोटे-छोटे आहार की मात्रा न्यून की जाती है। जिससे आहार और आयु एक साथ पूर्ण हो सकें। उस वर्ष अन्तिम चार महीनों में मुख-यन्त्र विसंवादी न हो अर्थात् नमस्कार महामन्त्र आदि के जप करने में असमर्थ न हो जाय, एतदर्थ कुछ समय के लिए मुँह में तेल भरकर रखा जाता है।[6]

दिगम्बर आचार्य शिवकोटि ने अनशन, ऊनोदरी भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता इन छ: बाह्य तपों को बाह्य संलेखना का साधन माना है।[7] सलेखना का दूसरा एक क्रम यह है कि प्रथम दिन उपवास द्वितीय दिन वृत्ति परिसंख्यान तप किया जाये।[8] बारह प्रकार की जो भिक्षु प्रतिमाएँ हैं उन्हें भी संलेखना का साधन माना गया है।[9] काय-संलेखना के इन विविध विकल्पों में आयंबिल तप उत्कृष्ट साधन है। संलेखना करने वाला साधक छट्ठ, अष्टम, दशम, द्वादश आदि विविध तप करके पारणे में बहुत ही परिमित आहार ग्रहण करे, या तो पारणे में आयंबिल करे। कांजी का आहार ग्रहण करे।[10]

मूलाराधना में भक्त परिज्ञा का उत्कृष्ट काल बारह वर्ष का माना है।[11] उनकी दृष्टि से प्रथम चार वर्षों में

---

१. विकृष्ट—अष्टम-दशम-द्वादशादिकं तप:कर्म भवति—

—प्रवचनसारोद्धार वृत्तिपत्र २५४

२. पारणके तु परिमितं किंचिदूनोदरता सम्पन्नमाचाम्लं करोति।

—वही०, पत्र २५४

३. पारणके तु मा शीघ्रमेव मरणं यासिषमितिकृत्वा परिपूर्णपाण्या आचाम्लं करोति, न पुनरूनोदरयेति।

—वही०, पत्र २५४

४. कोटयो—अग्रे प्रत्याख्यानाद्यन्तकोणरूपे साहिते–मिलिते यस्मिस्तत्कोटिसहितं किमुक्तं भवति। विवक्षित दिने प्रातराचाम्लं प्रत्याख्यान तच्चाहोरात्रं प्रतिपाल्यं, पुनर्द्वितीयेऽह्नि आचाम्लमेव प्रत्याचष्टे, ततो द्वितीयस्यारम्भ कोटिशदस्य तु पर्यन्त-कोटि रूपे आपि मिलिते भवत इति तत्कोटि सहितमुच्यते, अन्येत्वाहु: अचाम्लमेकस्मित् दिने कृत्वा द्वितीय दिने च तपोदन्तरमनुष्ठाय पुनस्तृतीयदिन आचाम्लमेव कुर्वत कोटि सहितमुच्यते।

—बृहद् वृत्ति पत्र ७०६

५. "संवत्सरे" वर्षे प्रक्रमाद द्वादशे "मुनि:साधु:" मास, त्ति सुत्रत्वान्मासं भूतो मासिकरते नैवमार्द्धमासिकेन आहारेणेन्ति उपलक्षणत्वादाहारत्यागेन, पाठान्तरतश्च क्षणेन तप: इति प्रस्तावद भक्तपरिज्ञानादिकमनशनं "चरेत"

६. निशीथ चूर्णि

७. (क) मूलाराधना ३।२०८ (ख) मूलाराधना दर्पण, पृ० २४५

८. मूलाराधना ३।२४७

९. वही ३।२४९

१०. वही ३।२५०,२५१

११. वही० ३। २५२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचित्र कायक्लेशों के द्वारा तन को कृश किया जाता है। उसमें कोई क्रम नहीं होता। दूसरे चार वर्षों में विकृतियों का परित्याग कर शरीर को कृश किया जाता है।[१] नौवें और दसवें वर्ष में आयंबिल और विगय का त्याग किया जाता है। ग्यारहवें वर्ष में केवल आयंबिल किया जाता है। बारहवें वर्ष में प्रथम छः माह में अविकृष्ट तप, उपवास, बेला आदि किया जाता है।[२] बारहवें वर्ष के द्वितीय छः माह में विकृष्टतम तेला, चोला आदि तप किये जाते हैं।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में संलेखना के विषय में यत्किंचित मतभेद हैं। पर दोनों ही परम्पराओं का तात्पर्य एक सदृश है। मूलाराधना में आचार्य शिवकोटि ने लिखा है—संलेखना का जो क्रम प्रतिपादित किया गया है वही क्रम पूर्ण रूप से निश्चित है, यह बात नहीं है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और शारीरिक संस्थान आदि की दृष्टि से उस क्रम में परिवर्तन भी किया जा सकता है।[3]

संलेखना में जो तपविधि का प्रतिपादन किया है, उससे यह नहीं समझना चाहिए कि तप ही संलेखना है। तप के साथ कषायों की मन्दता आवश्यक है। विषयों से निवृत्ति अनिवार्य है। तपःकर्म के साथ ही अप्रशस्त भावनाओं का परित्याग के साथ प्रशस्त भावनाओं का चिन्तन परमावश्यक है।

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि संलेखना व्रत ग्रहण करने के पूर्व संलेखनाव्रतधारी को विचारों की विशुद्धि के लिए सभी सांसारिक सम्बन्धों से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना चाहिए। यदि किसी के प्रति मन में आक्रोश हो तो उससे क्षमा-याचना कर लेनी चाहिए। मानसिक शान्ति के लिए साधक को सबसे पहले सद्‌गुरु के समक्ष निश्शल्य होकर आलोचना करनी चाहिए। आलोचना करते समय मन में किंचित् मात्र भी संकोच नहीं रखना चाहिए। अपने जीवन में तन से, मन से और वचन से जो पाप-कृत्य किये हों, करवाये हों या करने की प्रेरणा दी हो उनकी आलोचना कर हृदय को विशुद्ध बनाना चाहिए। यदि आचार्य या सद्‌गुरु का अभाव हो तो अपने दोषों को प्रकट कर देना चाहिए। पंच-परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिए।[४]

आचार्य वीरनन्दी ने अपने "आचारसार"[५] नामक ग्रन्थ में लिखा है कि साधक को संलेखना की सफलता के लिए योग्य स्थान का चुनाव करना चाहिए जहाँ के राजा के मन में धार्मिक भावना अंगड़ाइयाँ ले रही हो, जहाँ की प्रजा के अन्तर्मानस में धर्म और आचार्य के प्रति गहरी निष्ठा हो, जहाँ के निवासी आर्थिक दृष्टि से सुखी और समृद्ध हों, जहाँ का वातावरण तपःसाधना के लिए व्यवधान के रूप में न हो। साथ ही साधक को न अपने शरीर पर ममता होनी चाहिए न चेतन-अचेतन किसी भी वस्तु के प्रति मोह-ममता हो।

यहाँ तक कि अपने शिष्यों के प्रति भी मन में किंचित् मात्र भी आसक्ति न हो। वह परीषहों को सहन करने में सक्षम हो। संलेखना की अवधि में पहले ठोस पदार्थों का आहार में उपयोग करे। उसके पश्चात् पेय पदार्थ ग्रहण करे। आहार इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए जिससे वात, पित्त, कफ विक्षुब्ध न हों।

संलेखना ग्रहण करने के पूर्व इस बात की जानकारी आवश्यक है कि जीवन और मरण की अवधि कितनी है। यदि शरीर में व्याधि हो गई हो पर जीवन की अवधि लम्बी हो तो उसे संलेखना ग्रहण करने का विधान नहीं है।

---

१. (क) मूलाराधना ३।२५३
(ख) निर्विकृतिः रसव्यंजनादिवर्जितमव्यतिकीर्णमोदनादि भोजनम्।

—मूलाराधना दर्पण ३।२५४, पृ० ४७५

२. मूलाराधना ३।२५४

३. मूलाराधना ३।२५५

४. रत्नकरण्ड श्रावकाचार ५-३-७

५. आचारसार १०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिगम्बर परम्परा के तेजस्वी नक्षत्र समन्तभद्र को 'भस्मरोग' हो गया और उससे वे अत्यन्त पीड़ित रहने लगे। उन्होंने अपने गुरु से संलेखना व्रत की अनुमति चाही। पर उनके सद्गुरुदेव ने अनुमति नहीं दी, क्योंकि उन्होंने देखा कि इनका आयु-बल अधिक है, इनसे जिन-शासन की प्रभावना होगी।

संथारे की विधि

संलेखना के पश्चात् संथारा है। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों की दृष्टि से संथारा ग्रहण-विधि इस प्रकार है। सर्वप्रथम एक निरवद्य शुद्ध स्थान में अपना आसन जमाये। उसके पश्चात् वह दर्भ, घास, पयाल आदि में से किसी का संथारा बिछौना बिछाए फिर पूर्व या उत्तर दिशा में मुँह करके बैठे। उसके पश्चात् "अह भंते अपच्छिम मारणंतिय संलेहणा-झूसणा आराहणाए आरोहेमि" "हे भगवन्! अब मैं अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन एवं आराधना करता हूँ।" इस प्रकार प्रतिज्ञा ग्रहण करता है। उसके बाद नमस्कार महामन्त्र, तीन बार वन्दना, इच्छाकारेणं, तस्स उत्तरी करणेणं, लोगस्स का पाठ व उसके पश्चात् ऊपर का पाठ बोलकर तीर्थंकर भगवान की साक्षी से इस व्रत को ग्रहण करे। फिर निवेदन करे कि—"भगवन! मैं अभी से सागारी या आगाररहित संथारा—भक्तप्रत्याख्यान करता हूँ, चारों आहार का त्याग करता हूँ। १८ पापस्थानों का त्याग करता हूँ। इस मनोज्ञ, इष्ट, कान्त, प्रिय, विश्वसनीय, आदेय, अनुमत, बहुमत, भाण्डकरण्डक समान, शीत-ऊष्ण, क्षुधा, पिपासा, आदि मिटाकर सदा जतन किया हुआ, हत्यारे चौरादि से, डांस-मच्छर आदि से रक्षा किया हुआ व्याधि, पित्त, कफ, वात सन्निपातिक आदि से भी बचाया हुआ विविध प्रकार से स्पर्शों से सुरक्षित, श्वासोच्छ्वास की सुरक्षा प्राप्त इस शरीर पर मैंने जो अब तक मोह-ममत्व किया था, उसे अब मैं अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक त्यागता हूँ, मुझे कोई भी चिन्ता न होगी। क्योंकि अब यह शरीर धर्म पालन करने में समर्थ न रहा, बोझरूप हो गया, आतंकित या अत्यन्त जीर्ण अशक्त हो गया।"

"उपासक दशांग" में आनन्द श्रमणोपासक बहुत वर्षों तक गृहस्थ जीवन के सुखों का उपभोग करते रहे। जीवन की सान्ध्यवेला में वे स्वयं पोषधशाला में जाते हैं और "दब्भ संथारयं संथरई" दर्भ का संथारा बिछाते हैं। धर्मप्रज्ञप्ति स्वीकार कर विविध तप-कार्यों द्वारा उपासक प्रतिमाओं की आराधना करते हुए शरीर को कृश करते हैं। जिसे हम संथारा कहते हैं वह अनशन का द्योतक है। आगम साहित्य में संथारा का अर्थ "दर्भ का बिछौना" है। "सलेखना" शब्द का प्रयोग—भासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सट्ठि भत्ताइं अणसणए छेदेत्ता"।

"प्रवचनसारोद्धार" में लिखा है—साधक द्वादशवर्षीय उत्कृष्ट संलेखना करके तदनन्तर कन्दरा, पर्वत, गुफा, या किसी निर्दोष स्थान पर जाकर पादपोपगमन या भक्त प्रत्याख्यान या इंगिनीमरण को धारण करे।[1] सारांश यह है कि संलेखना के पश्चात् संथारा ग्रहण किया जाता था। यदि ऐसा कोई आकस्मिक कारण आ जाता तो संलेखना के बिना भी संथारा ग्रहण कर समाधिमरण को वरण किया जाता था।

संथारा-संलेखना का महत्त्व

संथारा-संलेखना करनेवाला साधक धर्मरूपी अमृत को पान करने के कारण ससार के जितने भी दुःख हैं वह उन दुःखों से मुक्त हो जाता है, तथा निःश्रेयस् अभ्युदय के अपरिमित सुखों का प्राप्त करता है।[2] पण्डित आशाधर ने कहा है—जिस महासाधक ने संसार परम्परा को सम्पूर्ण रूप से उन्मूलन करने वाले समाधिमरण को धारण किया है उसने धर्मरूपी महान् निधि को परभव में जाने के लिए साथ ले लिया है। इस जीव ने अनन्त बार मरण

---

१. द्वादशवार्षिकोमुत्कृष्टां सलेखनां कृत्वा गिरिकन्दरं गत्वा उपलक्षणमेतद् अन्यदपि षट् कायोपमर्द रहितं विविक्तं स्थानं गत्वा पादपोपगमनं वा शब्दाद् भक्तपरिज्ञामिंगिनीमरणं च प्रपद्यते।

—प्रवचनसारोद्धार, १३४.

२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ५-६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त किया किन्तु समाधि सहित पुण्य-मरण नहीं हुआ। यदि समाधि सहित पुण्य-मरण होता तो यह आत्मा संसार रूपी पिंजड़े में कभी भी बन्द होकर नहीं रहता।[1] भगवती आराधना[2] में कहा है—जो जीव एक ही पर्याय में समाधि-पूर्वक मरण करता है वह सात-आठ पर्याय से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करता। आचार्य समन्तभद्र ने[3] कहा है—जीवन में आचरित तपों का फल अन्त समय में गृहीत संलेखना है। "मृत्यु महोत्सव" में लिखा है—जो महान् फल बड़े-बड़े व्रती संयमी आदि को कायक्लेश आदि उत्कृष्ट तप तथा अहिंसा आदि महाव्रतों को धारण करने से नहीं होता वह फल अन्त समय में समाधिपूर्वक शरीर त्यागने से प्राप्त होता है—

"यत्फलं प्राप्यते सद्भिर्वतायासविडंबनात्।
तत्फलं सुखसाध्यं स्यान्मृत्युकाले समाधिना॥"

—शांतिसोपान, श्लोक २१

"गोम्मटसार" में[4] आचार्य नेमिचन्द्र ने शरीर के त्याग करने के तीन प्रकार बताये हैं—च्युत, च्यावित और त्यक्त। अपने आप आयु समाप्त होने पर शरीर छूटता है वह च्युत है। विषभक्षण, रक्तक्षय, धातुक्षय, शस्त्राघात, संक्लेश, अग्निदाह, जल प्रवेश प्रभृति विभिन्न निमित्तों से जो शरीर छूटता है वह च्यावित है। रोग आदि समुत्पन्न होने पर तथा असाध्य मारणांतिक कष्ट व उपसर्ग आदि उपस्थित होने पर विवेकयुक्त समभावपूर्वक जो शरीर त्याग किया जाता है, वह त्यक्त है। त्यक्त शरीर ही सर्वश्रेष्ठ हैं, इसमें साधक पूर्ण जाग्रत रहता है। उसके मन में संक्लेश नहीं होता। इसी मरण को संथारा, समाधिमरण, पण्डित-मरण, संलेखना-मरण प्रभृति विविध नामों से कहा गया है।

आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर कड़ाई स्थविरों का वर्णन है। वे संथारा—संलेखना करने वाले साधकों के साथ पर्वत आदि पर जाते हैं, और जब तक संथारा करने वाले का संथारा पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक वे स्वयं भी आहारादि ग्रहण नहीं करते।[5] दिगम्बर परम्परा की भगवती आराधना[6] में भी इस प्रकार के साधकों का विस्तार से वर्णन है।

संलेखना के पाँच अतिचार :

(१) इहलोकाशंसा प्रयोग—धन, परिवार आदि इस लोक सम्बन्धी किसी वस्तु की आकांक्षा करना।

(२) परलोकाशंसा प्रयोग—स्वर्ग-सुख आदि परलोक से सम्बन्ध रखने वाली किसी बात की आकांक्षा करना।

(३) जीविताशंसा प्रयोग—जीवन की आकांक्षा करना।

(४) मरणाशंसा प्रयोग—कष्टों से घबराकर शीघ्र मरने की आकांक्षा करना।

(५) कामभोगाशंसा प्रयोग—अतृप्त कामनाओं की पूर्ति के रूप में काम-भोगों की आकांक्षा करना।

सावधानी रखने पर भी प्रमाद या अज्ञान के कारण जिन दोषों के लगने की सम्भावना है उन्हें अतिचार

---

१. सागार धर्मामृत ७-५८ और ८-२७, २८.
२. भगवती-आराधना।
३. रत्नकरण्ड श्रावकाचार ५-२.
४. गोम्मटसार—कर्मकाण्ड ५६, ५७, ५८.
५. ज्ञातासूत्र, अ० १, सूत्र ४९.
६. भगवती आराधना, गा० ६५०-६७६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा है। साधक इन दोषों से बचने का प्रयास करता है। जैन परम्परा की तरह ही तथागत बुद्ध ने भी जीवन की तृष्णा और मृत्यु की तृष्णा को अनैतिक माना है। बुद्ध की दृष्टि से भवतृष्णा और विभवतृष्णा क्रमशः जीविताशा और मरणाशा की द्योतक हैं। जब तक ये आशाएँ और तृष्णाएँ चिदाकाश में मँडराती रहती हैं वहाँ तक पूर्ण नैतिकता नहीं आ सकती। इसलिए इनसे बचना आवश्यक है।

साधक को न जीने की इच्छा करनी चाहिए, न मरने की इच्छा करनी चाहिए। क्योंकि जीने की इच्छा में प्राणों के प्रति मोह झलकता है तो मरने की इच्छा में जीने के प्रति अनिच्छा व्यक्त होती है। साधक को जीने और मरने के प्रति अनासक्त और निर्मोह होना चाहिए। एतदर्थ ही भगवान महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा—साधक जीवन और मरण दोनों ही विकल्पों से मुक्त होकर अनासक्त बनकर रहे।[1] और सदा आत्मभाव में स्थित रहे। कष्टों से मुक्त होने के लिए और स्वर्ग के रंगीन सुखों को प्राप्त करने की कमनीय कल्पना से जीवन रूपी डोरी को काटना एक प्रकार से आत्महत्या है। साधक के अन्तर्मानस में न लोभ का साम्राज्य होता है, न भय की विभीषिकाएँ होती हैं, न मन में निराशा के बादल मंडराते हैं, और न आत्मग्लानि ही होती है। वह इन सभी द्वन्द्वों से विमुक्त होकर निर्द्वन्द्व बनकर साधना करता है। उसके मन में न आहार के प्रति आसक्ति होती है, और न शारीरिक विभूषा के प्रति ही। उसकी साधना एकान्त निर्जरा के लिए होती है।

संलेखना आत्म-हत्या नहीं है

जिन विज्ञों को समाधिमरण के सम्बन्ध में सही जानकारी नहीं है उन विज्ञों ने यह आक्षेप उठाया है कि समाधिमरण आत्म-हत्या है। पर गहराई से चिन्तन करने पर यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि समाधिमरण आत्महत्या नहीं है। जिनका मन-मस्तिष्क भौतिकता से ग्रसित है, जरा-सा भी शारीरिक कष्ट सहन नहीं कर सकते, जिन्हें आत्मोद्धार का परिज्ञान नहीं है, वे मृत्यु से भयभीत होते हैं। पर जिन्हें आत्म-तत्त्व का परिज्ञान है, आत्मा और देह दोनों पृथक् हैं, उन्हें देहत्याग के समय किंचित् मात्र भी चिन्ता नहीं होती, जैसे एक यात्री को सराय छोड़ते समय मन में विचार नहीं आता।

समाधिमरण में मरने की किंचित् मात्र भी इच्छा नहीं होती, इसलिए वह आत्महत्या नहीं है। समाधि-मरण के समय जो आहारादि का परित्याग किया जाता है, उस परित्याग में मृत्यु की चाह नहीं होती, पर देह-पोषण से बचा जाता है। आहार के परित्याग से मृत्यु प्राप्त हो सकती है। किन्तु उस साधक को मृत्यु की इच्छा नहीं है। किसी व्यक्ति के शरीर में कोई फोड़ा हो चुका है। डॉक्टर उसकी शल्य-चिकित्सा करता है। शल्य-चिकित्सा से उसे अपार वेदना होती है। वह शल्य-चिकित्सा रुग्ण व्यक्ति को कष्ट देने के लिए नहीं किन्तु कष्ट के प्रतीकार के लिए है, वैसे ही संथारा—संलेखना की जो क्रिया है वह मृत्यु के लिए नहीं पर उसके प्रतीकार के लिए है।[2]

एक रुग्ण व्यक्ति है। डाक्टर शल्य चिकित्सा के द्वारा उसकी व्याधि को नष्ट करने का प्रयास करता है। शल्य चिकित्सा करते समय डाक्टर प्रबल प्रयास करता है कि रुग्ण व्यक्ति बच जाय। उसके प्रयत्न के बावजूद भी यदि

---

१. जीवियं नाभिकंखेज्जा मरणं नाभिपत्थए।
दुहओ वि न सज्जिज्जा जीविए मरणे तहा॥

—आचारांग ८-८-४।

२. मरण पडियार भूयाएसा एवं च ण मरणंनिमित्ता जहगंड छे—
अकिरिआणो आयविरहाणारूपा।

—उद्धृत्—दर्शन और चिन्तन पृ० ५३६ से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रुग्ण व्यक्ति मर जाता है तो डाक्टर हत्यारा नहीं कहलाता। इसी तरह संथारा—संलेखना में होने वाली मृत्यु आत्म-हत्या नहीं हो सकती। शल्य चिकित्सा दैहिक जीवन की सुरक्षा के लिए है तो संलेखना—संथारा आध्यात्मिक जीवन की सुरक्षा के लिए है।

कितने ही समालोचक जैन दर्शन पर आक्षेप लगाते हुए कहते हैं कि जैन दर्शन जीवन से इकरार नहीं करता वह जीवन से इन्कार करता है। पर उनकी यह समालोचना भ्रान्त है। जैन दर्शन जीवन के मिथ्या-मोह से इन्कार अवश्य करता है। उसका स्पष्ट मन्तव्य है कि यदि जीवन जीने में कोई विशिष्ट लाभ है, तुम्हारा जीवन स्व और पर-हित की साधना के लिए उपयोगी है तो तुम्हारा कर्त्तव्य है कि सभी प्रकार से जीवन की सुरक्षा की जाय। श्रुतकेवली भद्रबाहु ने स्पष्ट शब्दों में साधक को कहा—"तुम्हारा शरीर न रहेगा तो तुम संयम की साधना, तप-आराधना और मनोमंथन किस प्रकार कर सकोगे। संयम-साधना के लिए तुम्हें देह की सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए उसका परिपालन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।"[1]

संयमी साधक के शरीर की समस्त क्रियाएँ संयम के लिए होती हैं। जिस शरीर से संयम की विराधना होती हो, मन में संक्लेश पैदा होता हो वह जीवन किस काम का। जैन दर्शन के मूर्धन्य मनीषियों का यह स्पष्ट मन्तव्य रहा है—वही जीवन आवश्यक है जिससे संयमी जीवन की शुद्धि होती हो, आध्यात्मिक गुणों की शुद्धि और वृद्धि होती हो, उस जीवन की सतत रक्षा करनी चाहिए। जिस जीवन से संयमी जीवन धुँधला होता हो उस जीवन से मरना अच्छा है। इस दृष्टि से जैन दर्शन जीवन से इन्कार करता है। पर प्रकाश करते हुए, संयम की सौरभ फैलाते हुए जीवन से इन्कार नहीं करता।

संलेखना व संथारे के द्वारा जो समाधिपूर्वक मरण होता है, उसमें और आत्महत्या में मौलिक अन्तर है। आत्महत्या वह व्यक्ति करता है जो परिस्थितियों से उत्पीड़ित है, उद्विग्न है, जिसकी मनोकामनाएँ पूर्ण नहीं हुई हैं। संघर्षों से ऊबकर जीवन से पलायन करना चाहता है। या किसी से अपमान होने पर, कलह होने पर, आवश्यकताओं की पूर्ति न करने पर, पारस्परिक मनोमालिन्य होने पर, किसी के द्वारा तीखे व्यंग्य कसने पर, वह कुएँ में कूदकर, समुद्र में गिरकर, पेट्रोल और तेल छिड़क कर, ट्रेन के नीचे आकर, विष का प्रयोग कर, फाँसी आदि लगाकर या किसी शस्त्र से अपना जीवन समाप्त करना चाहता है। आत्महत्या में वीरता नहीं किन्तु कायरता है। जीवन से भागने का प्रयास है। आत्महत्या के मूल में भय और कामनाएँ रही हुई हैं। उसमें कषाय और वासना की तीव्रता है। उत्तेजना है। पर समाधिमरण में संघर्षों से साधक भयभीत नहीं होता। जब उसके मन में कषाय, वासना और इच्छाएँ नहीं होती। जब साधक के सामने एक ओर देह और दूसरी ओर संयम-रक्षा इन दो में से एक को चुनने का प्रश्न आता है तो साधक उस समय देह को नश्वर समझकर संयम की रक्षा के लिए संयम के पथ को अपनाता है। जीवन की सान्ध्यवेला में जब मृत्यु सामने खड़ी हुई उसे दिखाई देती है, वह निर्भय होकर उस मृत्यु को स्वीकार करना चाहता है। उसकी स्वीकृति में उसे अपूर्व प्रसन्नता होती है। वह सोचता है—कर्मजाल में यह आत्मा अनन्त काल से फँसी हुई है। उस जाल को तोड़ने का मुझे अपूर्व अवसर मिला है। वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होने के लिए अविनश्वर आनन्द को प्राप्त करने के लिए शरीर को त्यागता है। समाधिमरण में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के द्वारा यह चिन्तन करता है कि कर्मबन्धन का मूल कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के कारण देह और आत्मा को एक मानता रहा हूँ। जैसे चना और चने का छिलका पृथक् हैं, वैसे ही आत्मा और देह पृथक् है। मिथ्यात्व से ही पर-पदार्थों में परिणति होती है। ज्ञान आत्मा का निज गुण है। मिथ्यात्व के कारण वह निजगुण प्रकट नहीं हो सका है। आत्मा अनन्तकाल से विश्व में जो परिभ्रमण कर रहा है, वह सही ज्ञान के अभाव में। जब ज्ञान का पूर्ण निखार होगा तब मुझे केवलज्ञान प्राप्त होगा। इस प्रकार वह सम्यग्-

---

१. "संजमहेउ देहो धारिज्जई सो कओ उ तदभावे।
संजम काइनिमित्तं देह परिपालणा इछा" —ओघ नियुक्ति, ४७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन, सम्यग्ज्ञान से आत्मा और देह की पृथक्ता समझकर चारित्र और तप की आराधना करता है। उसकी आराधना में किसी भी प्रकार की आसक्ति और भय नहीं होता। इसलिए समाधिमरण आत्महत्या नहीं है। संक्षेप में यदि हम कहें तो संलेखना व समाधिमरण की निम्न विशेषताएँ हैं—

(१) जैन धर्म की दृष्टि से शरीर और आत्मा ये दोनों पृथक-पृथक् हैं। जैसे मोसम्बी और उसके छिलके।

(२) आत्मा निश्चयनय की दृष्टि से पूर्ण विशुद्ध है, वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, अनन्त आनन्द से युक्त है। जो हमें शरीर प्राप्त हुआ है उसका मूल कर्म है। कर्म के कारण ही पुनर्जन्म हैं, मृत्यु हैं, व्याधियां हैं, ।

(३) दैनन्दिन जीवन में जो धार्मिक साधना पर, तप पर बल दिया गया है उसका मूल उद्देश्य है आत्मा में जो कर्म-मैल है उस मैल को दूर करना। प्रश्न है कर्म आत्मा पर चिपके हुए हैं, फिर शरीर को कष्ट क्यों दिया जाय। उत्तर है, घृत में यदि मलिनता है तो उस मलिनता को नष्ट करने के लिए घृत को तपाया जाता है, किन्तु घृत अकेला नहीं तपाया जा सकता, वह बर्तन के माध्यम से ही तपाया जा सकता है। वैसे ही आत्मा के मैल को नष्ट करने के लिए शरीर को भी तपाया जाता है। यही कारण है कि संलेखना में कषाय के साथ तन को भी कृश किया जाता है।

(४) जब शरीर में वृद्धावस्था का प्रकोप हो, रुग्णता हो, अकाल आदि के कारण शरीर के नष्ट होने के प्रसंग उपस्थित हों, तो उस समय साधक को संलेखना व्रत ग्रहण कर आत्मभाव में स्थिर रहना चाहिए। संलेखना आत्मभाव में स्थिर रहने का महान् उपाय है।

(५) संलेखना व्रत ग्रहण करने वाले को मृत्यु के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। मृत्यु की जानकारी के लिए श्वेताम्बर आचार्यों ने अनेक उपाय बताये हैं। उपदेशमाला के आम्नाय आदि के द्वारा आयु का समय जाना जा सकता है।

(६) संलेखना करने वाले साधक का मन वासना से मुक्त हो, उसमें किसी भी प्रकार दुर्भावना नहीं होनी चाहिए।

(७) संलेखना के पूर्व जिनके साथ वैमनस्य हुआ हो उनसे क्षमायाचना कर लेनी चाहिए और दूसरों को क्षमा प्रदान भी कर देना चाहिए।

(८) संलेखना के अन्दर तनिक मात्र भी विषम भाव न हो। मन में समभाव हो।

(९) संलेखना अपनी स्वेच्छा से ग्रहण करनी चाहिए। किसी के दबाव में आकर अथवा स्वर्ग आदि के सुखों की प्राप्ति उपलब्ध होगी इस दृष्टि से संलेखना—संथारा करना अनुचित है।

(१०) सलेखना करने वाला साधक मन में यह न सोचे कि मेरी संलेखना—संथारा लम्बे काल तक चले जिससे कि लोग मेरे दर्शन हेतु उपस्थित हो सकें, मेरी प्रशंसा हो, और यह भी न सोचे कि मैं शीघ्र ही मृत्यु को वरण कर लूँ। संलेखना वाला साधक न जीने की इच्छा करता है, न मरने की; वह तो सदा समभाव में रहकर संलेखना की साधना करता है। उसमें न लोकैषणा होती है, न वित्तैषणा होती है, न पुत्रैषणा होती है।

जैन साधना पद्धति में आत्म बलिदान की प्रथा मान्य नहीं है। शैव और शाक्त साम्प्रदायों में पशुबलि की भाँति आत्म-बलिदान को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। पर जैन धर्म में उसका महत्त्व नहीं है। संलेखनायुक्त समाधिमरण आत्म-बलिदान नहीं है। आत्म-बलिदान और समाधिमरण में अन्तर है। आत्म-बलिदान भावना की प्रबलता होती है। बिना भावातिरेक के आत्म-बलिदान नहीं होता, जबकि समाधिमरण में भावातिरेक नहीं, किन्तु विवेक की प्रधानता होती है।

यदि हम श्रमण जीवन को सूर्य की उपमा से अलंकृत करें तो कह सकते हैं कि आर्हती दीक्षा ग्रहण करना यह श्रमण जीवन का उदयकाल है। उसके पूर्व की वैराग्य-अवस्था साधक जीवन का उषाकाल है। जब साधक उत्कृष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तप-जप व ज्ञान की साधना करता है उस समय उसकी साधना का मध्याह्न काल होता है और संलेखना प्रारम्भ करता है तब उसका सन्ध्या काल होता है। सूर्य उदय के समय पूर्व दिशा मुस्कराती है। उषा सुन्दरी का दृश्य अत्यन्त लुभावना होता है। उसी प्रकार सन्ध्या के समय पश्चिम दिशा का दृश्य भी मन को लुभावनेवाला होता है। सन्ध्या की सुहावनी लालिमा भी दर्शक के हृदय को आनन्द विभोर बना देती है। वही स्थिति साधक की है। उसके जीवन में भी संयम को ग्रहण करते समय जो मन में उल्लास और उत्साह होता है वही उत्साह मृत्यु के समय भी होता है। जिस छात्र ने वर्ष भर कठिन श्रम किया है वह छात्र परीक्षा प्रदान करते समय घबराता नहीं हैं। उसके मन में एक प्रकार का उत्साह होता है। वह प्रथम श्रेणी में समुत्तीर्ण भी होता है। वैसे ही जिस साधक ने निर्मल संयम की साधना जीवन भर की है वह संथारे से घबराता नहीं, पर उसके मन में एक आनन्द होता है। शायर के शब्दों में—

मुबारक जिन्दगी के वास्ते दुनिया को मर मिटना।
हमें तो मौत में भी जिन्दगी मालूम देती है॥

मौत जिसको कह रहे वो जिन्दगी का नाम है।
मौत से डरना-डराना कायरों का काम है॥

जैन आगम साहित्य, उसका व्याख्या साहित्य और जैन कथा साहित्य—इतिहास में संलेखनायुक्त समाधिमरण प्राप्त करने वाले हजारों साधक और साधिकाओं का उल्लेख है। तीर्थंकरों से लेकर गणधर, आचार्य, उपाध्याय व श्रमण-श्रमणियाँ तथा गृहस्थ साधक भी समाधिमरण को वरण करने में अत्यन्त आनन्द की अनुभूति करते रहे हैं। श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा में भी समाधिमरण का गौरवपूर्ण स्थान रहा है। इस तरह सम्पूर्ण जैन परम्परा समाधिमरण को महत्त्व देती रही है। भगवान महावीर के पश्चात् द्वादश वर्षों के भयंकर दुष्कालों में संयमी साधना में अनेक बाधाएँ उपस्थित होने लगीं तो उन वीर श्रमणों ने संलेखनायुक्त मरण स्वीकार कर ज्वलन्त आदर्श उपस्थित किया। विस्तार भय से हम यहाँ प्रागैतिहासिक काल से आज तक की सूची नहीं दे रहे हैं। यदि कोई शोधार्थी इस पर कार्य करे तो उसको बहुत कुछ सामग्री सहज रूप से उपलब्ध हो सकती है।

संलेखना और आत्मघात में शरीर त्याग समान रूप से है, पर शरीर को कौन, कैसे और क्यों छोड़ रहा है? यह महत्त्वपूर्ण बात है। संलेखना में वही साधक शरीर का विसर्जन करता है जिसने अध्यात्म की गहन साधना की है, भेदविज्ञान की बारीकियों से जो अच्छी तरह से परिचित है, जिसका चिन्तन स्वस्थ, सुचिन्तित है। "मैं केवल शरीर ही नहीं किन्तु मेरा स्वतन्त्र अस्तित्व है। शरीर मरणशील है और आत्मा शाश्वत है। पुद्गल और जीव—ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। दोनों के अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व हैं। पुद्गल कभी जीव नहीं हो सकता और जीव कभी पुद्गल नहीं हो सकता है। संलेखना, जीव और पुद्गल जो एकमेक हो चुके हैं, उसे पृथक् करने का एक सुयोजित प्रयास है।

संलेखना और आत्मघात इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। आत्मघात करते समय व्यक्ति की मुखमुद्रा विकृत होती है, उस पर तनाव होता है, उस पर भय की रेखाएँ झलकती रहती हैं किन्तु संलेखना में साधक की मुख-मुद्रा पूर्ण शान्त होती है, उसके चेहरे पर किसी भी प्रकार की आकुलता-व्याकुलता नहीं होती। आत्मघात करने वाले का स्नायु तन्त्र तनावयुक्त होता है। जबकि संलेखना करने वाले साधक का स्नायु-तन्त्र तनावमुक्त होता है। आत्मघात करने वाले व्यक्ति की मृत्यु आकस्मिक होती है जबकि संलेखना करने वाले की मृत्यु जीवन-दर्शन पर आधारित होती है। आत्मघात करने वाला जिस स्थान पर आत्मघात करना चाहता है उस स्थान को वह प्रकट होने देना नहीं चाहता है वह लुक-छिपकर आत्मघात करता है, जबकि संलेखना करने वाला साधक किसी प्रकार स्थान को नहीं छिपाता। अपितु उसका स्थान पूर्व निर्धारित होता है, सभी को ज्ञात होता है। आत्मघात करने वाले की वृत्ति में कायरता है, अपने कर्त्तव्य से पलायन करना चाहता है जबकि संलेखना वाले की वृत्ति में प्रबल पराक्रम है। उसमें पलायन नहीं किन्तु सत्यस्थिति को स्वीकार करना है। आत्मघात और संलेखना के अन्तर को मनोविज्ञान द्वारा भी स्पष्ट समझा जा सकता है मान-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिस तनाव के कारण और अनेक सामाजिक विसंगति व विषमताओं के कारण आत्मघात की प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं। भौतिकवाद की चकाचौंध में पले-पुसे व्यक्तियों को यह कल्पना भी नहीं हो सकती कि शान्ति के साथ योजनापूर्वक मरण को वरण किया जा सकता है। संलेखना विवेक की धरती पर एक सुस्थित मरण है। संलेखना में केवल शरीर ही नहीं किन्तु कषाय को भी कृश किया जाता है। जब तक शरीर पर पूरा नियन्त्रण नहीं किया जाता वहाँ तक संलेखना की अनुमति प्राप्त नहीं होती। उसमें सूक्ष्म समीक्षण भी किया जाता है। जब मानसिक संयम सम्यक् चिन्तन के द्वारा पूर्ण रूप से पक जाता है तभी संलेखना धारण की जाती है। संलेखना पर जितना गहन चिन्तन-मनन जैन मनीषियों ने किया है उतना अन्य चिन्तकों द्वारा नहीं हुआ। संलेखना के चिन्तन का उद्देश्य किसी प्रकार का लौकिक लाभ नहीं है, उसका लक्ष्य पार्थिव समृद्धि या सांसारिक सिद्धि भी नहीं है अपितु जीवन-दर्शन है। संलेखना जीवन के अन्तिम क्षणों में ही की जाती है पर आत्मघात किसी भी समय किया जा सकता है।

□

सारं दंसण नाणं, सारं तव-नियम-संजम-सीलं।
सारं जिणवरधम्मं, सारं संलेहणा-मरणं ॥

संसार में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, तप, नियम, संयम, शील जिनधर्म तथा संलेखनापूर्वक मरण ही सार-तत्त्व है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org